
इ) गृहस्थ और संन्यास धर्म।

इ) गृहस्थ और संन्यास धर्म --

व्यक्तिगत जीवन का आदर्श --

कबीर का युग महत्वाकांक्षा और सुख-लोलुपता का युग था। लोभ से प्रेरित होकर सुल्तान भारत पर आक्रमण कर रहे थे। धन को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा था। उसके लिए मानवता को भूला जा रहा था। राज्य लिप्सा के कारण पिता, भाई को बंध किया जाता था। कबीर के हृदय में इस अमानवीय कार्य से प्रतिक्रिया की भावना जागृत हुई और हृदय संवेदना, करुणा तथा प्रेम से भर गया। इन भावनाओं के उद्रेक से कबीर ने संतोष, संयम, दीनता तथा हामा का व्यक्तिगत जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया। कबीर की दृष्टि व्यक्ति पर केन्द्रीभूत थी। उनका लक्ष्य था, व्यक्ति के सुधार के द्वारा कुत्सित और अधःपतित जनता में क्रान्ति स्थापन करके उसे उन्नत दिशा की ओर ले जाना। व्यक्ति का सुधार ही समष्टि के सुधार का आधार होता है। इसलिए कबीर ने एक व्यक्ति का जीवन आदर्श क्या होना चाहिए इसे समाज के समक्ष अपने को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया। वही कबीर के व्यक्तिगत जीवन का निजि आदर्श था। वे कहते हैं, दूसरों को कभी न ठगिए, बल्कि अपने आपको ठगा दीजिए। अपने को ठगा देने में सुख उत्पन्न होगा, किन्तु दूसरे को ठगने से हृदय पीडा से भर जाएगा।

“कबीरा आप उगाइये और न ठगिये कोइ ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्यां दुख होइ ।”

कबीर का पारिवारिक जीवन --

कबीर बरागी होते हुए भी गृहस्थ थे। उन्होंने वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था, तथा स स्तान भी थे। अब प्रश्न यह है कि इनकी स्त्री का क्या नाम था ? वे कौन थी ? अनेक किंवदन्तियों के आधार पर परम्परा 'लोई' को इनकी

पत्नी मानती आ रही हैं। कबीर ने अपनी रचनाओं में कई बार 'लौई' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी अधिकतर संशोधन में है। जिस प्रकार शिवाजी ने पार्वतीजी को उपदेश दिए थे। संभवतः उसी प्रकार कबीर ने अपने बहुत से उपदेश लौई, जो संभवतः उनकी स्त्री ही थी, को संशोधित कर प्रवर्तित किए थे। लौई के सम्बन्ध में प्रवाद है कि वे किसी बन्संडी बैरागी को लौई में लपेटे हुए नवजात कन्या के रूप में गंगाजी के तट पर मिली थी। उन्होंने ही इस कन्या का पालन-पोषण किया था। बड़ी होने पर उस का विवाह कबीर से हुआ। दोनों का सम्बन्ध बड़ा उपयुक्त और सम था। अगर वर के पिता का पता न था, तो दुलहिन के माता-पिता, दोनों ही अज्ञात थे।

एक अन्य किंवदन्ति है कि 'लौई' पहले तो कबीर की शिष्या थी, किन्तु बाद में उनकी पत्नी बन गयी। परम्परा के आधार पर कबीर की स्त्री का नाम 'लौई' मान सकते हैं। डा. रामकुमार वर्मा ने अन्तः साक्ष्य के आधार पर अनुमान किया है कि कबीर की दो स्त्रियाँ थीं। उनके मतानुसार पहली संभवतः कुरुप थी। उसकी जाति-याँति का कोई भी पता न था। उसमें ग्राह्य के भी कोई लक्षण न थे। दूसरी स्त्री संभवतः सुन्दर और सुलहाणी थी। पहली स्त्री का नाम 'लौई' और दूसरी का 'धनिया'। लोग इसे रामजनियाँ भी कहते थे। कबीर भक्त थे, उनकी दोनों स्त्रियों में जो भक्ति होगी, कबीर को वह अधिक प्रिय होगी। उसी को वह सुलहाणा और सुन्दर भी मानते होंगे। जब हम कबीर के दो पत्नियों मानते हैं, तो उनसे उन्हें मंतां भी अवश्य प्राप्त हुआ होंगे। अन्तः साक्ष्य से ऐसा सिद्ध भी होता है कि कबीर के कई लड़के - लड़कियाँ थीं। कुछ अन्य विद्वानों का मत भी है कि कबीर के 'कमाल' तथा 'निहाण' और 'कमाली' तथा 'निहाली' नाम के पुत्र-पुत्रियाँ थीं। पंथ भाईयों का कहना है कि कमाल ने गुजरात में एक पंथ भी प्रवर्तित किया था। अतः यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि कबीर दो स्त्रियों और कई पुत्र-पुत्रियों से समन्वित गृहस्थ थे।

कबीर गृहस्थ थे या नहीं, पूर्ण विश्वास से इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, परंतु जान पड़ता है कबीर सद्गृहस्थ ही थे। सूपिनओं का पारिवार रहता था।

उनके पुत्र-कलत्र स्रम मिल जाते हैं। इसीलिए मुसलमानी परम्परा के लिए कमाल को उनके पुत्र के रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु जान पड़ता है कबीर-पंथियों को, हिन्दु भावना, आध्यात्मिक नेता को गृहत्यागी के रूप में ही देखना चाहती है। इसीसे उन्होंने अनेक प्रकार से लोई, कमाल और कमाली को कबीर से सम्बन्धित करने की चेष्टा की है। ये तीनों उनके शिष्य भी बना दिये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि लोई कबीर के पास जाकर उनसे ताना-बाना सीखती थी। परन्तु ऐसा संभव नहीं है। कुछ रचनायें ऐसी मिल ही जाती हैं जिनसे यह स्पष्ट व्यंजना होती है कि 'लोई' कबीर की स्त्री थी।

एक कविता में कबीर अपने दूसरे विवाह की बात कहते हैं, परन्तु हम इसे रूपक भी मान सकते हैं। कबीर से दूसरे विवाह की आशा व्यर्थ है। कबीर पंथी कहते हैं कि पहली पत्नी से कबीर का तात्पर्य उनकी सांसारिक प्रवृत्ति से है, दूसरी पत्नी से उनका अर्थ आध्यात्मिक जागृति है। यह भी हो सकता है कि पहली पत्नी लोई हो और दूसरी पत्नी को उन्होंने लौकिक प्रेम के विरुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के आनन्द का इंगित किया है। एक दूसरे पद में कबीर की पत्नी का नाम धनियाँ भी कहा गया है। जिसे उनके सन्त मित्रों ने 'रमजनिया' कहकर पुकारना शुरुन कर दिया था। पद इस प्रकार है --

मेरी बहुरिया को धनिया नाऊ ।
ले सविआ रामजनिया नाऊ ।
इन मुण्डियन मेरा धर धुंधरावा ।
विटवही राम रमऊआ लावा ।
कहतु कबीर मनहु मेरी माई ।
इन मुण्डियन मेरी जाति गवाई । * ५१
रागु आसा - ३३

कबीर की पत्नी के अतिरिक्त उनकी संतान के सम्बन्ध में भी अनेक किंवदन्तियाँ मिलती हैं। 'आदिग्रन्थ' के एक श्लोक का सम्बन्ध उनके पुत्र कमाल से है।

बूढ़ा वंश कबीर का उपजिआ पुत्र क्मालु ।
हरि का सिमरन् छाडिक, धरि लँ आया मालु ॥^{१०}

कमाल, कमाली आदि कबीर की सन्तान माने जाते हैं । मुसलमान ऐसा मानते हैं, झाँसी से बारह मील दूर जलालपुर में शीख कमाल की कब्र भी दिखायी जाती है । यह शीख कमाल क्या निश्चित रूप से कबीर के शिष्य थे ? कम से कम कमाल और कमाली के कबीर के पुत्र होने में कोई सन्देह नहीं है । परन्तु हिंदु 'कबीर पंथी' इस को स्वीकार नहीं करते । वह उनके साथ अलौकिक घटनायें जोड़ देते हैं । संभवतः उनकी स्त्री से उनकी नहीं पटती थी । इसका कारण भी स्पष्ट था, कबीर साधु-सन्तों के सत्कार में अधिक लगे रहते थे । घर में जो कुछ अच्छा भोजन बनता था, वह तो वे साधु-सन्तों को खिला देते थे । चबूना आदि उनकी स्त्री बेचारी को खाना पडता था । तभी तो वह कहती थी ---

मुँड पलोसि कमर बधि पोथी ।
हम कठ चाकु उन कठ रोटी ॥^{११}

इस प्रकार का संतोषा संभवतः उनकी पहली स्त्री ने ही प्रकट किया होगा । तभी तो कबीर ने उसे कुरनपि, कुजाति, कुलवनि कहा है । इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर का पारिवारिक जीवन बहुत सुखमय और सफल न था । 'आदि - ग्रंथ' से कबीर के बाह्य संबंधों का भी पता लगता है । कबीर के परिवार के लोगों ने उनकी महानता को नहीं समझा और अपने पारिवारिक जीवन में उन्हें बड़े विरोध का सामना करना पडा ।

धन, सम्पत्ति सम्बन्धी कबीर के विचार --

धन वैभव की जीवन के लिए असीम उपयोगिता है । धन से जीवन की लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है । जीवन यापन के लिए धन अनिवार्य तत्व है, किन्तु

जीवन में धन-लिप्सा अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाती है, तब वह हानि प्रद और दुःसदायी होती है। कबीर धन संपदा को जीवन यत्न के लिए अनिवार्य तत्व मानते हैं। परन्तु वे अत्यधिक धन संवय करने के पक्ष में नहीं हैं। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भले प्रकार हो सके तथा अतिशय, सत्कारिदि का पालन किया जा सके और साधु जन की सेवा की जा सके इतना पर्याप्त धन प्रत्येक व्यक्ति के पास होना चाहिए ऐसा उनका मत था।

“सांई इतना दीजिए, जामे कुटूम समाय ।
मै भी भूँसा न रहूँ, साधु भी भूँसा न जाय ॥”^{१२}

वे अपनी दूसरी अभिव्यक्ति में कहते हैं कि हे माधव ! तुम्हारे साथ बात कौसी निमेगी ? तुम तो कुछ दोगे नहीं, तो लो मैं ही माँग लूँ। मुझसे भूँ पेट भक्ति तो होगी नहीं। अतः अपनी माला सँभालो, मुझे किसी का लेना-देना नहीं। मैं केवल यही माँगता हूँ कि मैं सन्नों का आदर कर सकूँ, सेवा कर सकूँ, केवल दो से आटा चाहता हूँ और पाव भर घी चाहता हूँ। मैं आधा सेर दाल चाहता हूँ, जिससे मैं दोनों समय भर पेट भोजन कर सकूँ, और चारपाई माँगता हूँ, तकिया तथा ओढने का वस्त्र, बिछाने का ज़ादुदा चाहता हूँ। क्योंकि मैं लम्बा नहीं, इसलिए वस्तुएँ छोटी ही होंगी।

“भूँ भगत न कीजै । यह अपनी माला लीजै ॥
टठ मांगठ सन्तन देना । मै नाही किसी का देना ॥
माधो कौसी बनै तुम संगी । आपि न देहु लेउ मी ।
दुइ सेर मांगठ चूना । पाठ घीठ संगि लूना ॥
अधसेरन मांगठ दाले । मोकठ दानठ अक्षत जिवाले ॥
खाट मांगठ चउपाई । सिरहाना अवर तुलाई ॥
ऊपर कूठ मांगठ खीघा । तेरी भगति करै जनु बीघा ॥
मै नाही कीता लंबो । हकु नाठ तेरा मै पनबो ॥”^{१३}

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर भरण-पोषण के निमित्त

थोड़े ही पदार्थ उपयुक्त समझाते हैं। एक व्यक्ति को आवश्यकतानुसार यदि उतना भी मिल जाए तो वह सामान्यतया सादा जीवन यापन कर सकता है और अपने अतिथी तथा अन्य आगंतुकों का सम्मान कर सकता है। अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्तव्य वस्तुओं के लिए वह परिश्रम भी कर सकता है। कबीर ने प्राणप्रदजीवन रक्षक पदार्थों की ही माँग की है। उनके दृष्टिकोण से आराम-दायक तथा विलासिता के पदार्थों की कोई आवश्यकता मनुष्य के लिए नहीं है, क्योंकि उन पदार्थों से मनुष्य आलसी, विलासी तथा आराम पसंद हो जाएगा और जीवन ध्येय को प्राप्त न कर सकेगा।

‘हम मांगठ संतन देना’ ही कबीर का आदर्श था क्योंकि वे कहते हैं कि ----

‘मर जाउं मांगू नहीं, अपने तन के काज ।
परमारथ के कारनै, मोहिन आवैं लाज ॥’^{१४}

कबीर को धन-संबंध की कोई आवश्यकता नहीं थी। एक दिन के मौज्जा की जितनी आवश्यकता होती थी, उससे अधिक उन्हें नहीं चाहिए था, उनका मूल, ‘पेट समाता लेई’ का था। यदि भगवान टैक रख ले तो अपने मालिक से भी माँगना मला नहीं, क्योंकि माँगना वस्तुतः मृतक के समान है।

‘मांगण मरण समान है, बिरला ब्यँ कोई ।
कहँ कबीर रघुनाथ सँ, मतिर मंगावैं मोहि ॥’^{१५}

धन संबंध के सम्बन्ध में कबीर का विश्वास है कि धन की प्रवृत्ति स्थिर नहीं होती। वह चंचल होता है और चंचलता ही उसकी परिभाषा है। वह अपने पास से चली जानेवाली वस्तु है। अतः ऐसा धन नहीं जोड़ा जा सकता, जो फिर मिल सके। वे कहते हैं कि ऐसा धन संबंध करो, जो भविष्य में काम आ सके। जब काल आ जाता है, तब यह यहीं पड़ा रह जाता है। कोई धन बाँधकर अपने सिर पर रख कर ले जाता नहीं देखा गया। मरने पर तो खाली हाथ ही जाना पड़ता है। अतः जो धन साथ जा सके वही संबंध करो।

‘ कबीर सौ धन संचिए, जो आगै कू होइ ।
सोस चढाये पाटलो, ले जात न देख्या कोइ ॥ ’ १५

साथ जानेवाला धन शुभ कर्म ही हो सकते हैं । कबीर का संकेत है, परहित साधन की ओर । लोक-कल्याणार्थ निष्काम कर्म से यश तथा कीर्ति मिलेगी । वह तो जगत में विद्यमान रहेगी और शुभ फल के साथ जाकर भावी जीवन को सुख पहुँचायेगी । अपने द्वारा संचित धन का उपयोग त्याग बुद्धि से करने का आदर्श कबीर ने प्रस्तुत किया है । वैभव संघर्ष के लिए धन-लिप्सा प्रेरक भाव है । अतएव कबीर ने संतोष के साथ जीवन यापना की शिक्षा दी है । जो कुछ भी मला-बुरा मिल जाए, उसी में संतुष्ट रहकर कर्तव्य पूर्ति में लगना श्रेयस्कर है ।

कबीर की सम्पत्ति और विपत्ति के विषय में यह धारणा है कि वैभव को देखकर गर्व में आनंदित नहीं होना चाहिए और विपत्ति को समझ पाकर न रन्दन ही करना चाहिए । दोनों को समान भाव से स्वीकार करना चाहिए, अंगिकार करना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार सम्पत्ति है, उसी प्रकार विपत्ति है ।

‘ सम्पति देखि न हरिषाये, विपति देखि न रोइ ।
ज्युं सम्पति त्युं विपति है, करना कर सु होइ ॥ ’ १७

कबीर सम्पत्ति की व्यर्थता तथा रत्न की हाणकता को मान, सन्मान तथा वैभव समझाते हैं । वे इन सब से बहुत ही महत्वपूर्ण सन्तों के साथ प्राप्त हुआ मधुकरि और प्रभु का गुणगान मानते हैं । उँच-भवन, कन्क-कामिनी, मान-सन्मान के चिह्न जैसे की शिखर ध्वजाएँ इन सबसे सन्तों के साथ की मिह्रा, मधुकरि और उनके साथ किया हुआ प्रभु-गुणगान मला है ।

‘ उँच भवन कन्कामनी सिखरि धजा फहराइ ।
ता ते भली मधुकरि स्त संग गुण गाइ ॥ ’ १८

और इन सबको प्राप्त करने के लिए जो कौड़ी - कौड़ी जोड़कर लाखों, करोड़ों रुपये इकट्ठे करते हैं उनसे वे कहते हैं ‘ यह सब करने से जब कि सन्सार छोड़कर

तुम्हें जाना होगा, तो उस समय साथ में कुछ न मिलेगा। यहाँ तक कि लंगोटी भी तोड़ ली जाएगी।

‘कबीर कूडही कूडही जोरि कै जोरै लस करोरि ।

बलती बार न कुछ मिलिआ लई लंगोटी तोरि ॥’^{१०९}

कुटुम्ब के नाते, रिश्तों की व्यर्थता स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं ‘तूने हरि का स्मरण छोड़कर कुटुम्ब का पालन-पोषण किया और धन्या करना - रहा, आसिर तक करता ही रहा, किन्तु अन्त में न तेरा भाई रहा न बन्धु ।’

‘कबीर हरि का सिमरनु छौडि कै पालिआ बहुत कुरबु ।

धंधा करता रहि गइआ भाई रहिआ न बंधु ॥’^{१००}

और इसी प्रकार साधुओं की महत्ता स्पष्ट करते हुए तथा और सब बातों को निरर्थक मानते हुए वे कहते हैं ‘जिस घर में साधुओं की सेवा नहीं होती, वहाँ हरि की भी सेवा नहीं होती और ऐसा घर स्मशान है। वहाँ मृत रहते हैं’

‘कबीर जा घर साध न सेवीअहि हरि की सेवा नाहि ।

ते घर मरघट सारखे मृत बसहि तिनु मांहि ॥’^{१०१}

यह सब परब्रह्म की माया है। सम्पत्ति और विपत्ति दोनों ईश्वर की ही वस्तुयें हैं। अतः वे जो कुछ देते हैं, उसे अच्छे मन से स्वीकार करना चाहिए।

कबीरदासजी को ऊपरी रंग-ढंग, बाह्याडम्बर, बिल्कुल मान्य नहीं हैं। वे मन की निष्ठा, भ्रष्टा, लगन इन्हें ही मानते हैं। चाहे कोई भले ही गृहस्थी हो या बँरागी। लेकिन उसके मन से अगर कामवासना नष्ट नहीं हो, तो उसका पारावार नहीं है। यह सावधानता कबीर ने अनेक बार स्पष्ट की है।

‘कबीर कहता जात है, चेतें नहीं गँवार ।

बँरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥’^{१०२}

कबीरदासजी केवल वेश-भूषा से किसी को बँरागी कबूल नहीं करते। उन्होंने तो स्पष्ट किया है, अगर किसी बँरागी का वेश सिर्फ बँरागी के समान

हो लेकिन उसका आचरण पाप-कर्म का है, तो वह केवल बाह्यावरण से ही साधु दृष्टिगत होता है, लेकिन अंतःकरण से परम असाधु अर्थात् नीच होता है ।

* कबीर भेडा अतीत का, कर तुति करै अपराध ।
बाहर दिसी साध गति, माहँ माँह असाध ॥ १०३

कबीरदास की दृष्टि में गृहस्थ को उदार और बंरागी को विरक्त होना चाहिए । अपने इन गुणों को त्यागने से सम्पूर्ण साधन व्यर्थ जाते हैं और उनके अनर्थ का कोई आर-न-पार होता है ।

* बंरागी विरक्त मला, गिरही चित्र उदार ।
दुहँ बूका रोता पडँ, ताकं वार न पार ॥ १०४

कबीर के मतानुसार गृहस्थी में गृहस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए । उसने बंराग्य लेकर गृहस्थ धर्म का पालन करना, बन्धन में पडना अभाष्य-कारक है ।

* कबीर जड ग्रिह करहि त धरमु करन नाहित करन
बंरागी बंधु करै ता को बडो अभागु ॥ १०५

कबीर सज्जी लगन, सज्जी भ्रष्टा इसे ही महत्व देते हैं और इसका उदाहरण सहित वे स्पष्टिकरण करते हैं । गैरनवा वस्त्र पहन लेने से और जंगल में बसने से ही कोई बंरागी नहीं हो जाता, यदि वास्तुतः उसका साध नहीं छोड़तीं । गृहस्थ भी वीतराग हो सकता है अगर उसके मन में बंराग्य बसा हुआ है । जैसे कि जन की अर्थात् गृही और बंरागी की सज्जी परिभाषा उनके मन के विश्लेषण पर आधारित है । ठीक वैसे ही जैसे गाने में रोना छिपा रह सकता है और रोने में गाना ।

* गावन ही मै रोज है, रोवन ही मै राग ।
इक बंरागी ग्रिह करै, एक ग्रिही बंराग ॥ १०६

कबीर का संन्यास धर्म --

कबीर गृहस्थ होते हुए भी संन्यास-मार्गी थे । लेकिन सामान्यतः संन्यास का अर्थ जो सब बातों का त्याग करना लिया जाता है , उस प्रकार के कबीर संन्यास धर्मी नहीं थे । गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ही उसमें आसक्त न रहते हुए, अनासक्त रहते हुए, ईश्वर चिन्तन में मग्न रहना यही उनका व्रत था । जैसे पानी में रहते हुए भी कमल-दल पानी से अलिप्त रहता है वैसे ही गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी कबीर उससे अलिप्त थे । सुद योग-साधना में तल्लीन रहते थे और जो ईश्वर की भक्ति अथवा साधना में तल्लीन रहते ! उन्हें निष्काम कर्म करने के लिए सदैश देते हैं । किसी भी साधक के लिए घर का त्याग करके वन में बसे जाना और वहाँ तपस्यादि करना उनको उचित नहीं प्रतीत होता । उनका मत है कि वह भक्त सत्त्व है, जो घर में और गृहस्थ धर्म का पालन करता हुआ, साधना में तल्लीन रहता है ।

* अक्य, मूले को घर लावै, सो जन हमको भावै ।

घर में जोग, भोग घर ही में, घर तबि बन नहिं जावै ॥ १०७

कबीर का आदर्श था कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में रहते हुए निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए ।

महाराष्ट्र के संत शारंगमणी ज्ञानेश्वर महाराज के पिता विठ्ठलप्रतंजी ने अपना गृहस्थ जीवन छिपाकर रामानन्दजी से संन्यास-दीक्षा ली थी । सर्व संग परित्याग किया था, लेकिन रामानन्दजी के सामने सत्य प्रकट होने पर उन्होंने विठ्ठलप्रतंजी को फिर से गृहस्थ जीवन का स्वीकार करने का उपदेश दिया था । यह बात यहाँ स्मरणीय है ।

कर्मशीलता --

कबीरदास अकर्मण्यता को कबूल नहीं करते थे । उनका सिद्धान्त है कि व्यक्ति को शारीरिक श्रम करना चाहिए । वे कर्मशीलता के पक्षपाती रहे । शारीरिक श्रमद्वारा धनोपार्जन तो होता ही है, साथ ही साथ आत्मखानी भी

नहीं होती। मनुष्य का चरित्र शुद्ध रहता है, उसके स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। जो व्यक्ति शारीरिक भ्रम नहीं करते, उन का मन व्यर्थ के कार्यों में उलझा रहता है। उनका चरित्र गिर जाता है। मानसिक रोग हो जाते हैं और व्यक्ति का स्वास्थ्य तो नष्ट होता ही है, आचरण भी नष्ट होता है। ऐसा व्यक्ति जीवन-आदर्श का पालन करने में सफल नहीं होता।

सादा जीवन --

कबीर को सादा तथा सरल जीवन पसंद था। वे आठखरों से बहुत दूर थे। पहनावे में भी आठखर के पहापाती न थे। कबीर आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए कहते हैं कि अपना वैभव, अपनी सम्पत्ति या अपने सौन्दर्य पर गर्व करते हुए प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और दूसरे की विपन्नता, दीनता को देखकर उसे न रंक कहना चाहिए और न उस पर हँसना चाहिए, क्योंकि न जाने किस समय किस वृक्षा के नीचे का कूड़ा जीवन का कटक या प्राणघातक हो जावे। कबीर मानव-जीवन पानी के बुलबुले के समान तथा सुअह के तारे के समान मानते हैं।

* आपन याँ न सराहि, और न करिए रंक ।
ना जांगौँ किस त्रिषा तलि, कूडा होइ करंक ॥ * १०६

* पांणों केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति ।
एक दिनां छिप जाहिंमे तारा ज्युं परमाति ॥ * १०९

सेवा --

कबीर ने वैयक्तिक जीवन का सर्वश्रेष्ठ आदर्श निरूपित किया है। भौतिकता का विसर्जन कर ब्रह्म की आराधना। वे कर्म करना भगवत भक्ति ही समझते हैं, क्योंकि भगवान का निवास सभी में है, सेवक में भी, सेव्य में भी। अतः लोकसेवा से भगवान की ही सेवा होती है।

* जो सेवक सेवा करे, ता संगि रमै रे मुरारि । * ११०

कबीर के जीवन के आदर्श के विश्लेषण से निम्न निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं जो सारे समाज के लिये आदर्श-स्वरूप एवं मार्गदर्शक सिद्ध हो सकते हैं :--

- (१) अपनी आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं का उपभोग करना, जिससे अन्य लोगों के लिए अभाव न होने पाए और सभी को आवश्यकतानुसार वस्तुएँ मिलती रहें ।
- (२) धन का संवय न करना अर्थात् धन को गाड़ कर न रखना, वरन् अर्जित धन को व्यवहार में रखना । उस धन को परहित साधन के कार्यों में व्यय करना ।
- (३) पर के धन का लालच न करना और न छल-कपट से चुराने अथवा हथियाने की कुबेष्टा करना ।
- (४) सादा-जीवन और उच्च विचार के साथ समाज-सेवा में रत रहना ।
- (५) निर्धन और धनवान का अमेदत्व स्वीकार करना और समरसता का जीवन व्यतीत करना ।
- (६) समभाव, सन्तोषा, निर्लेप तथा निर्विषय होकर धनोपार्जन करना ।
- (७) निर्मल और स्वच्छ हृदय से प्रत्येक मानव में ईश्वर का रूप देखना । " १११

प्रपंचों से पृथक होकर सन्सार में किस प्रकार रहकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है ? इस प्राप्ति के लिए कबीर ने वैयक्तिक जीवन में आचारों की महत्ता निरूपित की है - वे इस प्रकार हैं ---

“ अहिंसा, सांच, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोषा, तपश्चर्या, धीरज, क्षमा, सतसंग । ”

अहिंसा --

कबीर ने जीव-हिंसा तथा उन्हें कष्ट देनेवालों की घोर मर्तमा की है । तामसिक साधकों के प्रति व्यंग्य से उन्होंने कहा है - “ जीव-हिंसा धर्म है और

जीव-हिंसा करनेवाले धार्मिक हों, मुनि हों, तो फिर अधर्मी और कसाई कौन हैं ? इस प्रकार कबीर ने जीव-हिंसा व्यक्तिगत जीवन के आचार में सब से बड़ा अधर्म माना है । कबीर के अनुसार ही अहिंसा को महाभारत में परमधर्म कहा गया है । प्रेम अथवा प्रीति-भाव अहिंसा धर्म के मूल हैं । प्रीति का अर्थ होता है प्रतीति अथवा सहानुभूति । कबीर ने प्रेम के साथ सभी के प्रति ^{प्रेम} व्यवहार करना मानव का परम कर्तव्य माना है ।

* जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम । * ११२

अतः अहिंसा धर्म के लिए प्रेम-भाव आवश्यक तत्व है ।

सौच --

अहिंसा के समान ही सत्य मन का सात्त्विक विचार है । कबीर के अनुसार सत्य वही है, जो स्थिर रहता है, परिवर्तनशील पदार्थ तो असत्य ही होते हैं ।

* सौच सोई ने धिरह रहाई, उपजे बिनसै झूठ हवै जाई । * ११३

कबीर ने सत्याचरण पर अधिक बल दिया है । उन्होंने केवल ब्रह्म ही को चरम सत्य कहा है अन्य सब तो मिथ्या हैं । जो साधक सर्वत्र सत्य ही को जानता है उसे असत्य मार्ग पर चलना नहीं चाहिए । सत्याचरणशील मनुष्य कभी भी सत्य नहीं छोड़ता है ।

* कबीर जिनि जिनि जौणियाँ, करता केवल सार ।

सो प्राणो काहँ बलै, झूठे जग की लार ॥ * ११४

वे सत्य के समान दूसरा कोई जप नहीं मानते और झूठ के समान दूसरा कोई पाप नहीं मानते । 'सौच सम तप नहीं । झूठ सम पाप ।' कबीर का स्पष्ट मत है कि जिसके हृदय में सत्य है उसी के हृदय में ईश्वर का निवास है ।

अस्तेय --

कबीर कहते हैं जो वस्तु अपनी नहीं है, जिस पर दूसरे का अधिकार है, बिना उसके अनुमति ले लेना चोरी है। सभी पदार्थ विश्वनियन्ता के द्वारा सभी प्राणियों की आवश्यकतानुसार उनके अलग-अलग भाग के अनुपात से निर्धारित किए गए हैं। सब को अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार उनका उपभोग करना चाहिए। जिसके लिए बितना निर्धारित है उसे उसी के अनुपात से मिलता है।

* जाकां जेता निरमया, ताकां तेता होइ ।
रती घन तिल बघ, जा सिर कुट कोइ ॥ * ११५

ब्रह्मचर्य --

कबीर ने वैयक्तिक आचार में ब्रह्मचर्य का विशेष महत्व स्वीकार किया है। कबीर की दृष्टि में नारी सहवास का त्याग, कामोपभोग या काम बेषटा आदि का निवारण ब्रह्मचर्य है। ^{वे} ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए सभी प्रकार की विषय-वासना, भोजन-आस्वाद आदि का परित्याग चाहते हैं।

* नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग ।
बेणि छँडि पछिताइया, हवै हँ मूरति भंग ॥ * ११६

ब्रह्मचर्य जीवन का सार तत्व है। ब्रह्मचारी आचार्यों में सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं।

अपरिग्रह --

अपरिग्रह की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को धर्म, विश्वास और सन्तोष आदि सद्गुणों को ग्रहण करना चाहिए। कबीर उचित या अनुचित रूप से धन संवय के पक्ष में नहीं हैं। धन संवय से गर्व और प्रभुत्व में वृद्धि होती है जिससे नम्रता, किन्त्य, कारुण्य और श्रद्धा आदि सात्त्विक भावों का हनन हो जाता है। अपरिग्रह बित्त को शान्त रखने के लिए महोपाधि है और भक्ति भाव का अत्यन्त प्रभावशाली पोषक तत्व है।

‘ संत न बांधें गांठड़ी, पेट समाता लेइ । ’ ११७

शांख --

जत-तप एवं शुद्ध किवारों के द्वारा आन्तरिक स्वच्छता को ही शांख की संज्ञा दी जाती है । कबीर साधक के लिए अन्तःकरण की शुद्धि महत्वपूर्ण कार्य समझाते हैं । उन्होंने क्लृप्तिगत हृदय के रहते हुए बड़ी-से-बड़ी योग-सिद्धि को भी तुच्छ बताया है ।

‘ हिरदै क्यट हरि सुं नहीं साबां, क्हा मयां जे अन्हद नाच्यो । ’ ११८

कबीर ने जीवन की शुचिता के लिए शांख-नियम का पालन अनिवार्य माना है ।

सन्तोष --

परिणाम अथवा फलाशा के विचार से रहित होकर स्वर्तुष्य को करते रहना, किसी वस्तु के अभाव पर सिन्न न होना, जिस स्थिति एवं अवस्था में रहने का संयोग हो जाय, उसी में सहर्ष रहना तथा किसी प्रकार भी अपनी इच्छा के वशीभूत न होना सन्तोष कहलाता है । कबीर ने सन्तोष को सर्वश्रेष्ठ धन निरूपित किया है । सन्तोष धन के समस्त अन्य धन धूरि के समान है ।

‘ जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान । ’ ११९

तपश्चर्या --

मन, इन्द्रिय, शरीर आदि के संयम के हेतु व्रत-उपवास आदि विविध प्रकार से शरीर आदि को कष्ट देकर साधना करने को तप कहा जाता है । जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण को अग्नि में तपा कर शुद्ध कर लेता है, ऐसे ही कबीर तप के प्रभाव से मन, इन्द्रियादि का संयम करते हैं । कबीर ने व्यक्तिगत जीवन में किम्यशील, सहनशील, धैर्यवान तथा शान्तिप्रिय बनने को कहा है । इतना ही नहीं तो कुशद्, अपशद्, ईश्वर भक्त ही सह लेते हैं, दूसरों से वे नहीं सहे जाते । यह दृष्टान्त देकर कबीरदास समझाते हैं कि जिस प्रकार धरती को सूदना सहना पड़ता

हैं, बनराई को बाढ सहने पडती है, वैसे ही हरिजन को कुशाद्र सहने पडते हैं, दूजों से वे सहे नहीं जाते ।

* कुंदन तां धरती सहे, बाढ सहे बनराइ ।
कुसुमद तां हरिजन सहे, दूज सहा न जाइ ॥ * १२०

धीरज --

धीरज व्यक्तिगत जीवन की सफलता का एक महत्वपूर्ण तत्व है । जीवन में जल्द बाजी या धैर्यविहीनता अत्यन्त कष्टकर होती है । अपनी साधना में साधक को धैर्यपूर्वक मग्न रहना चाहिए । उसे उसका फल अवश्य मिलेगा । बिना धीरज के जीवन सफल नहीं होता है । इसलिए कबीर ने इसकी उपयोगिता मानो है । कबीर की यह धारणा है कि माली वृक्षा को साँ घडों से रोज सिंचता है, पर उसमें फूल, फल तो अपने समय पर ही आते हैं ।

* धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय ।
माली सीबे साँ घडा, फल आप फल होय । * १२१

हामा --

क्रोध और धैर्य का फल हामा है । किसी के अपराध को हामा करने की प्रवृत्ति व्यक्तित्व की महता का द्योतक है । इसीलिए कबीर ने हामा में ही ईश्वर का निवास माना है --

* जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप ।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप ॥ * १२२

सत्संग --

कबीर का निश्चित मत है कि सत्संगति कभी भी निष्फल नहीं होती । उसका फल अवश्य मिलता है और उससे यश की प्राप्ति होती है । सत्संग को कबीर ने अपना अध्ययन माना है । साधुजन की सेवा और संपर्क से व्यक्ति के दोषा दूर हो जाते हैं, कुबुद्धि का नाश हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश हो

जाता है। कबीरदास साधु को संगति तत्काल करने की कहते हैं, क्योंकि वे दुर्गति दूर करते हैं और उन्हें सुमति बता देते हैं।

* कबीर संगति साधु की, बेगि करी जै जाइ ।
दुरमति दूरि गँवाइसो, देसो सुमति बताइ ॥ १२३

साधु को संगति को कबीरदास ने गंधों की संगति के समान बताया है। जैसे गंधी स्रहवास से हमें अपने आप सुगंध मिल जाती है, वैसे सन्तों के स्रहवास मात्र से ही हम मक्त बन जाते हैं।

कबीर साहित्य पर चिन्तन करते हुए महाराष्ट्र के अनेकानेक सन्तों की विचारधारा और आचार धर्म की समानता स्रहज ही सामने आ जाती है। नामदेव और उनकी रचनाओं का कबीर और उनकी बाणी पर स्पष्ट प्रभाव दिखलायी पडता है। नामदेव से कबीर को निम्नलिखित बातें विरास्त में मिली हुअी जान पडती है।

- (१) कर्म और वंराग्य का सुन्दर समन्वय ।
- (२) भेद-भाव विहीनता ।
- (३) ब्रह्म की निर्गुणता ।
- (४) अनन्य प्रेम-भावना ।
- (५) सर्वात्मवाद और अद्वैतभावना ।
- (६) निर्गुण-भक्ति ।
- (७) नाम-साधना ।
- (८) सेव्य-सेवक भावना। इत्यादि ..

महाराष्ट्र के महान सन्त तुकाराम महाराज यद्यपि गृहस्थ थे तब भी आचारधर्म में बिल्कुल कबीर जैसे ही थे। सांसारिक आचरण करते हुए भी उसमें वे लिप्त नहीं थे।

निष्कर्ष --

कबीर की मक्ति वैराग्य मूलक है। उन्होंने प्रारंभ से ही संसार की नश्वरता समझ ली। इसीसे वह त्याग और वैराग्य की बात बार-बार उठाते हैं।

‘सब त्रिआंगि मनु केवल राम।’ यह उनका महामंत्र है। यह सारा संसार काल का सिलौना है, यह जीवन जैसे तरनवर की छाया है। यह जगत् जन्म लेता है और फिर देखते-देखते नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अनेक उदाहरणों द्वारा बार-बार विराग-भावना को दृढ़ करना चाहते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य संसार-त्यागी बन जाए, घर, गृहस्थी छोड़ दे, अपने लौकिक कर्तव्य को छोड़ दे और गृहत्यागी संन्यासी बन जाय। कबीर के जीवन वृत्तान्त में ऐसा बहुत कुछ है, जो इस गृहत्याग की भावना का विरोध करता है। कबीर जीवन भर सद्गृहस्थ बने रहे। जीवन पर्यन्त सत् कर्मों बने रहे। जहाँ कबीर के त्याग और वैराग्य की बात आती है, वहाँ वस्तुतः विषय त्याग की बात है। वह काम, क्रोध, लोकाचार और अहंकार को छोड़ने का उपदेश देते हैं। कर्ममात्र त्याग का उपदेश नहीं देते। यदि मनुष्य अहं भाव छोड़कर अपने ऐहिक कर्तव्यों को निभाता जाए तो यह कर्म संन्यास ही है। अपने समकालीन समाज के सामने स्वयं के आचरण द्वारा जैसे-जैसे महान आदर्श रखनेका कबीरदास का उद्देश्य ही यह था कि तत्कालीन पतित, अधोन्मुख समाज का समुचित उद्धार हो। कबीर बाणी में तत्कालीन समाज की दीन-हीन दशा का चित्रण कर समाज की आँखें खोलने के बजाय अमुक-अमुक प्रकार के पाप से, दुराचरण से अमुक-अमुक फल भुगतने पडते हैं अतः मनुष्य उनसे बचे, सतृप्त करे और सदाचारण करे आदि अच्छी बातें अपने मन्त्रों द्वारा बताने का मार्ग कबीरदास ने स्वीकारा था।

कबीर ने सब को कर्म करने की चेतावनी दी। ऐसा कर्म नहीं जो राम-नाम विहीन है। जो मनुष्य को लोभ के फन्दे में फँसाकर मार डालता है।

वही कर्म, कर्म है, जो 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' होता है। ऐसा कर्म वही कर सकता है, जो स्वार्थहीन होता है। स्वार्थ का त्याग तभी संभव है, जब मन पर नियंत्रण रखा जाय। मन पर नियंत्रण तभी संभव है, जब मनुष्य इन्द्रियों पर नियंत्रण कर ले। अपनी इच्छाओं को कम कर सन्तोषा धारण कर ले। तभी उसमें सत्यशील और भ्रष्टा का भाग जग सकता है। सत्यशील, दया, धर्म से मनुष्य नैतिकता धारण करता है। नैतिकता से वह दुर्गुणों (पर स्त्री गमन, चोरी, ठगी, मद्यपान, जूआ, कुसंगति आदि) का त्याग कर सकता है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि 'हे अज्ञानी जीव ! तू इन्द्रियों से मुक्त कर, नैतिकता पर विजय प्राप्त कर नैतिकता से ही मनुष्य अनुचित गुणों का त्याग और सद्गुणों को ग्रहण करता है। सद्गुणों से ही मनुष्य में सद् व्यक्तित्व और नैतिकता आती है। नैतिकता से ही मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन तथा सामूहिक जीवन में सुधार होता है। नैतिकता ही मनुष्य को सत्कर्म करना सिखाती है। सत्कर्म से व्यक्ति और समाज का हित होता है। मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य सत्कर्म करना है। कर्म ही मनुष्य के ऐहिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन को परस्पर समन्वित करता है। लोक-परलोक का हित मानव समाज की व्यवस्था पर आधारित है। समाज की यह व्यवस्था तभी मजबूत होती है, जब मानव द्वारा नैतिक कर्म किए जायेंगे। कबीरदास की नैतिकता की सत्कर्म की यह सीख इसी कारण थी कि तत्कालीन समाज में उसका अभाव था। समाज के सभी लोगों के उद्धार के लिये ही कबीरदास ने कमी तो सम्झा-बुझाकर और कमी पनटकार कर अपनी सरी-सरी बातें सुनायी हैं।

कबीर सभी जीवों में अभिन्नता देखते हैं क्योंकि सब में तो वही परमतत्व है, सभी ब्रह्म स्वरूप हैं। भिन्नता जो दिख पडती है, वह आकस्मिक है, बाह्य है, तात्त्विक है। निर्जिव की पूजा के लिए सबीव का बलिदान आचार नहीं, आचार का पाषण्ड है। सौच, दया, दामा, धीरज आदि कबीर के आचरण स्वयं के साथ-साथ सारे समाज के सर्वोत्थान के लिये ही थे। परन्तु यह आचरण उच्चता की दृष्टि से नहीं, वे उसका गर्व नहीं पालना चाहते क्योंकि गर्व अनुन्नति और पतन का मूल

कारण है। किसी प्रकार की उच्चता और 'मैं' 'मेरी' कबीर को पसन्द नहीं थी। उनका विश्वास था कि मानवीय आनन्द की प्राप्ति के लिए नैतिक एवं सदाचरण-जीवन आवश्यक है तथा व्यक्ति की पूर्णता में ही सामाजिक पूर्णता है। सामाजिक मानों के आधार पर व्यक्ति का सामाजिकीकरण नहीं एवं आध्यात्मिक पूर्णता से भिन्न कोई अन्य आचारात्मक पूर्णता नहीं। आचार आंतरिक चेतना का बाह्य प्रकाश है। कबीर का अंतिम निष्कर्ष था कि मनुष्य स्वयं अपना विधायक है। वह नगण्य नहीं। हीन-दीन भी नहीं तथा मानव-जीवन व्यर्थ नहीं है। किन्तु सही मानव-जीवन की प्रतिष्ठा के लिए व्यक्ति को आचारनिष्ठ होना होगा।